शोध मंथन Vol. XIV No.IV Oct.-Dec. 2023 ISSN: (P) 0976-5255 (e) 2454-339X
Impact Factor 8.870 (SJIF)

भारतीय कला में सूर्य का प्रतीकात्मक अंकन

प्राप्तिः 07.12.2023
स्वीकृतः 24.12.2023

डॉ० मनोज कुमार
ईमेलः *manojgbss0@gmail.com*

86

सारांश

कला का शाश्वत सत्य है, जीवन की अनिश्चितता लेकिन यह दर्शन की बात है और दर्शन नीरस है। इसलिए इसे रचनात्मक बिम्ब प्रदान करके सरल बनाने का प्रयास किया गया। यह महनीय कार्य कला ने पूरा किया। कला आज के समय का वह उत्पाद है, जिसकी प्रतिक्रियाएँ पूरी तरह से व्यक्तिगत नहीं होती अपितु वे सांस्कृतिक और सामाजिक भी होती हैं। प्रत्येक सभ्यताएँ अपने सांस्कृतिक उत्कर्ष एवं आध्यात्मिक विकास हेतु कला एवं साहित्य का उपयोग अतीत से करती आ रही हैं। कला में प्रयुक्त बिम्बों एवं प्रतीकों में सूर्य का क्या महत्त्व है? इसका उल्लेख पूर्व के अध्यायों में विस्तारपूर्वक बताया जा चुका है। यह सर्वविदित है कि उनका स्थान कितना महत्त्वपूर्ण है। सूर्य हमारी सांस्कृतिक, साम्प्रदायिक और राष्ट्रीय एकता के प्रतीक हैं। इनके लौकिक और आध्यात्मिक स्वरूप में भारतीय संस्कृति का प्रत्यक्ष निवास है। इनके केन्द्र में एकता, सहकारिता, प्रेम और बंधुत्व की छाँव है तथा इनकी गोद में समस्त धर्म, सम्प्रदाय, जाति, पंथ एक साथ बैठकर 'वसुधैव कुटुम्बकम' का समस्वर गान करते हैं।

मुख्य बिन्दू

आध्यात्मिक, सहकारिता, सम्प्रदायिक, राष्ट्रीय एकता, संस्कृति।

मानव जीवन को मानवता में बाँधने तथा लोगों में धर्म, संस्कृति एवं राष्ट्रीयता के प्रवाह को अक्षुण्ण बनाए रखने में सूर्य का महत्त्वपूर्ण योगदान है। सूर्य वह केन्द्र बिन्दु है, जो मानव के वैविध्यपूर्ण जीवन में एकता स्थापित करता है। शैव, वैष्णव, शाक्त, निर्गुण, सगुण से लेकर सभी धर्म–मतों के लोगों के लिए सूर्य समान रूप से आराध्य हैं। सभी विषमताओं और विविधताओं से पूर्ण होने के बावजूद भी मानव सूर्य के प्रति आस्थावान, श्रृद्धावान हैं। यह सांस्कृतिक जीवन में समरसता, समभाव और सम्मान विकसित करने वाली अनूठी और दैवीय परम्पराओं की संवाहक शक्ति है। प्रतीकों के माध्यम से सूर्याकृतियों का प्रस्तुतिकरण मानव–सभ्यता की उदय बेला से ही प्रारम्भ हो चुका था। स्वस्तिक, चक्र, कमल, आभामण्डल आदि संकेतों में आदिम मानव द्वारा चित्रित किए गए प्रतीकों द्वारा सूर्योपासना का पता चलता है।

प्रतीक शब्द का प्रयोग उस दृश्य अथवा गोचर वस्तु के लिए किया जाता है, जो किसी अदृश्य, अगोचर या अप्रस्तुत विषय का प्रतिपादन उसके साथ अपने साहचर्य के कारण करती है अथवा कह सकते हैं कि किसी प्रकार की समानुरूप वस्तु द्वारा किसी अन्य स्तर के विषय का

प्रतिनिधित्व करने वाली वस्तु प्रतीक है। जैसे अदृश्य या अप्रस्तुत ईश्वर, देवता अथवा व्यक्ति का प्रतिनिधित्व उसकी प्रतिमा या अन्य कोई वस्तु कर सकती है।[1]

उपर्युक्त पंक्तियों के आलोक में कहा जा सकता है कि आदिम मानव की उत्पत्ति के साथ प्रतीक–चित्रण एवं उसकी साधना का शुभारम्भ हो चुका था। प्रतीक–साधना के नेपथ्य में भय था अथवा वास्तविक श्रद्धा अथवा अज्ञात की खोज, यह एक अलग विषय है, किन्तु प्रागैतिहासिक शिलाचित्र पर अंकित विभिन्न कला–संकेतों एवं प्रतीकों के आधार पर यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि अपनी सभ्यता के शैशवकाल से ही आदिम चित्रकार प्रतीक–योजनाओं में व्यस्त था।

वास्तव में, प्रतीकीकरण मनुष्य का सहज स्वभाव है। भाषा का प्रारम्भिक रूप विविध मुद्राओं से युक्त और अनुकरण प्रधान था। पशुओं तथा ध्वनि उत्पन्न करने वाले विषयों का संकेत आदिम मनुष्य उनके सादृश्य आवाज उत्पन्न करके करता था।[2] पाश्चात्य विद्वान पेगेट का मत है कि प्रायः सभी शारीरिक मुद्राओं के साथ–साथ स्वर यन्त्र में गति होती रहती है और सहचारी स्वर को अलग करके उसे उस मुद्रा विशेष का प्रतीक बना लेना स्पष्ट ही अधिक सुविधाजनक और सरल उपाय था। मनुष्य ने रेखाएँ और चित्र खींचना भी शीघ्र ही सीख लिया था। उसकी ध्वन्यात्मक प्रतीकों से शब्द, शब्दों के योग से व्याकरणयुक्त वाणी का और उसके चित्रमय प्रतीकों से पहले चित्रलिपि और अन्ततः चित्रिलिपि से वर्णालिपि का विकास हुआ। इस प्रकार कहा जा सकता है कि सभी शब्द प्रतीक हैं। प्राचीन काल हो या आधुनिक काल, वैदिक आयोजन हो या आज का कोई महोत्सव मानव ने प्रतीकों के चरित्र को यथासम्भव अभिव्यक्ति में स्थान दिया है। अपनी विकासोन्मुख प्रवृत्ति के कारण प्रतीकों ने अपने आप को मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में संरक्षित कर लिया है। अपनी सांस्कृतिक एकता, सामुदायिक अभिव्यक्ति एवं कलात्मक स्वरूप के कारण हम प्रतीकों को प्रागैतिहासिक युग से लेकर वैदिक कला, सिन्धु घाटी सभ्यता, भारतीय भित्ति–चित्र, लघु चित्र एवं आधुनिक कला स्थिति में इनका निरूपण प्राप्त कर सकते हैं। कहीं पर भयभीत होकर प्रतीकों का चित्रण किया गया तो कहीं पर उल्लास के बिम्ब ये प्रतीक बनें। सामाजिक कल्याण और मानव जीवन की सुख–समृद्धि की अभिव्यंजना प्रतीकों में स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। धार्मिक धरा होने के कारण भारत में विशेष रूप से सामुदायिक उत्सव एवं धर्म–प्रेरित आयोजनों में मांगलिक प्रतीकों का स्थापन देखने को मिलता है।

लौकिक रीति से इसे समझने की चेष्टा की जाए तो सीधे शब्दों में इसे इस रूप में समझा जा सकता है–कोई वस्तु है (अस्ति), उसका हमें बोध होता है (भवति), वे हमें अच्छी लगती है (प्रिय), उसके रूप की हम कल्पना करते हैं और उसे नाम देते हैं। यदि कोई वस्तु हो ही नहीं, होने पर भी समझ में न आने पर भी अच्छी लगे तो उससे हम दूर ही रहते हैं और रूप–नाम का प्रसंग ही नहीं उठता। गुहा निवासी आदिम मनुष्य भी अच्छे लगने वाले मृग–पक्षियों के रूप, रंग वाले पत्थरों या कड़ी वस्तुओं से, दीवार, चट्टान आदि पर अंकित करता था। यही प्रतीक का आरम्भ है। ज्यों–ज्यों मनुष्य के विचार विकसित होते गए, त्यों–त्यों उसके प्रतीक के रूप भी विकसित होते गए और उनकी संख्या बढ़ती गई।[3]

प्रतीकों की अपनी विशेषताएँ हैं, कार्य हैं, उनका अपना महत्त्व भी है। हर क्षेत्र में चाहे वह धर्म हो, दर्शन हो, साहित्य या राजनीति हो, मनोविज्ञान या कला हो प्रतीक अपने स्वरूप और साद्देश्यता के साथ वहाँ क्रियाशील है। ऐसी वस्तु जो साधारणतः आँख से दिखाई नहीं पड़ती, परन्तु

अध्ययन तथा अनुभव से बोधगम्य, अंग को इंगित करने वाली तथा संकेत करने वाली प्रतीक कहलाती है। और अधिक स्पष्ट करने के लिए ये कहना अधिक उपयुक्त होगा कि जिस वस्तु, तथ्य और भाव को संकेत द्वारा लक्षणों द्वारा या चिह्नों आदि से पृथक है, चिह्न तत्कालीन परिस्थिति को बतलाता है, संकेत पहले के अनुभव से बनता है और लक्षण मात्र किन्हीं विशेष स्थितियों के प्रमाण हैं। संकेत फिर भी प्रतीक के निकट है। संकेत से भी निकटवर्ती शब्द बिम्ब है। वस्तुतः प्रतीक और बिम्ब में उतना बड़ा अन्तर नहीं है, जितना समझा जाता रहा है।

प्रत्येक प्रतीक अपने में मूल में बिम्ब होता है और मौलिक रूप से क्रमशः विकसित होकर प्रतीक बन जाता है। प्रत्येक बिम्ब अपने प्रभाव में चाहे जितना ऐन्द्रिय और संवेगात्मक हो, पर अन्ततः उसकी परिणति किसी प्रतीकात्मक अर्थ की व्यंजना में होती है।[4] प्रतीक तीन प्रकार के होते हैं। प्रथम प्रकार के 'प्रतीकात्मक प्रतीक' होते हैं, जिनका प्रयोग प्रत्येक युग का कलाकार अपनी आवश्यकतानुसार करता है। द्वितीय प्रकार के 'वैयक्तिक प्रतीक' होते हैं, जिनकी रचना कलाकार के विशिष्ट मानसिक गठन, संस्कार और अनुभूति की सैद्धान्तिकता पर निर्भर करती है। तृतीय प्रकार के 'प्राकृतिक प्रतीक' होते हैं, जिनका प्रयोग प्रत्येक युग का कलाकार एक नया दृष्टिकोण अपनाकर करता है।[5] सभी प्रकार के प्रतीक विशेषोन्मुख होते हैं। एक विशेष बिम्ब किसी एक ही कवि की अनेक रचनाओं में बार–बार दोहराया जाकर प्रायः प्रतीक बन जाता है। निःसन्देह प्रत्येक बिम्ब के भीतर एक प्रतीक अन्तर्निहित होता है और व्यापक प्रयोगों में जैसे–जैसे वह अमूर्तता की ओर बढ़ता जाता है, वैसे–वैसे उसकी प्रतीकात्मकता स्पष्ट होती है।[6]

कभी–कभी किसी वस्तु का एक महत्वपूर्ण अंश, उस पूरी वस्तु का प्रतीक बन जाता है। उदाहरण के लिए कभी–कभी एक पूरा श्लोक, मंत्र या पद उद्धृत करने के स्थान पर उसका एक प्रतिनिधि अंश ही बताते हैं और वह अंश पूरे पद का प्रतिनिधित्व करने लगता है। 'सर्वे भवन्तु सुखिः', 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा' इत्यादि मंत्रों के ऐसे ही अंश हैं, जो प्रतीक रूप में अपने–अपने श्लोकों का स्मरण करते हैं। चित्रकारिता में भी अक्सर हाथी को दर्शाने के लिए हाथी की केवल सूंड चित्रित कर काम चला दिया जाता है। सूंड का चित्रण पूरे हाथी का प्रतीक बन जाता है।

प्रतीक किसी भी समाज के जीवन–दर्शन और संस्कारों से निकट से सम्बद्ध होते हैं। इनके माध्यम से अभिव्यक्ति संभव और सरल हो जाती हैं। अनेक प्रतीक लोक–मानस के अंग बन जाते हैं। विभिन्न क्षेत्रों के आदिवासियों तक में कुछ विशेष प्रतीक चिह्न प्रचलित हैं। इनके अर्थ उनकी भावनाओं और संस्कारों से जुड़े हैं। आज परम्परागत प्रतीकों का अर्थ धुंधलाने लगा हैं। लोक–चित्रों में जो चित्र अंकित किए जाते हैं, वे अभ्यासजन्य अधिक होते हैं। वे क्या अभिव्यक्त कर रहे हैं, यह कम ही लोगों को पता होता है।[7] यह बात सूर्योपासना में प्रयुक्त किए गए प्रतीकों के संदर्भ में सहज ही विवेचित की जा सकती है। विभिन्न कालों में कलाकारों द्वारा सूर्य को अनेक प्रतीकों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है।

भारतीय कला आदर्शों और परम्पराओं की साकार अभिव्यक्ति करती है। इन आदर्शों एवं प्रतीकों का सांकेतिक अर्थ प्रतीकों के माध्यम से कला को समृद्ध करता आया है। इन प्रतीकों को मांगलिक अर्थात् कल्याणकारी समझा गया है। इसीलिए प्राचीन काल से अद्यतन यह प्रतीक भारतीय कला के विविध पक्षों को समृद्ध करते आए हैं। इन प्रतीकों को आरक्षा की भावना के निमित्त जीवन की भौतिकता से सम्बन्धित करते हुए प्रत्येक शुभ कार्य में कल्याण की आशा से पूजित भी किया जाता

रहा है। इनमें पूर्ण कलश, पद्म, चक्र, शंख, वृक्ष, पंचागुल्य, मीन–मिथुन, माला, छत्र, दर्पण, श्रीवत्स इत्यादि को समाविष्ट किया गया है। अष्टमांगलिक प्रतीकों के रूप में इन्हें मान्यता मिली है। भारतीय कला के विविध आयामों यथा–शिल्प, स्थापत्य एवं चित्रों आदि में यह आकर्षण स्वरूप में अभिव्यक्त हुए। स्तूप, मंदिर के विविध भागों पर लोकप्रिय अभिप्राय के रूप में इनके अंकन की परम्परा प्रचलित हुई। किसी धर्म विशेष की अवधारणा से नहीं जुड़ते हुए यह प्रतीक समस्त धर्मों में आदरणीय होते गए।

देव–समूह की विशिष्टता के पर्याय उनके प्रतीक चिह्न माने जाने लगे। शिवलिंग, योनिपट्ट, चक्र, पद्म, त्रिशूल, शंख, प्रभामण्डल, नाग, हंस, हस्ति व अश्व इत्यादि का प्रतीकात्मक आकार कला में उत्कीर्ण किया गया है। शिव, शक्ति, विश्णु, ब्रह्मा, गणेश, सूर्य, चन्द्र, लक्ष्मी व सरस्वती आदि देवी–देवताओं को उनके प्रतीक चिह्न से स्वरूपगत वैशिष्ट्य दिया गया तो बौद्ध धर्म में चक्र, त्रिरत्न, बोधिवृक्ष, स्तूप, पद–चिह्न आदि के गहन अर्थ बुद्ध एवं उनकी शिक्षा के संदर्भ में माने गए। जैन धर्म एवं कला में सिंहासन, चामर, छत्र व श्रीवत्स इत्यादि प्रतीकों को अर्थपूर्ण माना गया।

प्रतीकों के संदर्भ में भारतीय मंदिर स्थापत्य का अध्ययन करने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि यहाँ शिल्प–निर्माण परम्परा के साथ ही प्रतीकों के अंकन का प्रचलन भी था। कलश, पद्म, वृक्ष जैसे प्रतीक मन्दिरों की सौन्दर्य–वृद्धि के लिए आलंकारिक स्वरूप में आकारित हुए। देव–समूह से सम्बन्धित विशिष्ट प्रतीकों को तो उनके साथ दिखाया ही गया। इसके साथ ही विशिष्ट मांगलिक प्रतीक भी अंकित हुए। मध्यकाल में मंदिरों के अधिष्ठान से लेकर शिखर तक का भाग विभिन्न अभिप्रायों से सुसज्जित किया गया। इनमें आलंकारित स्वरूप में अभिव्यक्त प्रतीकों का भी महत्वपूर्ण स्थान है।

सायण के अनुसार प्रतीत अवयव या अंग का वाचक शब्द है। (तथाग्निः पृथु विस्तीर्ण प्रतीकं पृथिव्या अवयवम् इति)। वैदिक संहिताओं में 'सुप्रतीक' शब्द के प्रचुर प्रयोग हैं।[8] यह शब्द सुन्दर मुख के लिए प्रयुक्त होता था। तदनुसार शतपथ ब्राह्मण में प्रतीक संक्षिप्त परिभाषा 'मुखं प्रतीकम्' दी हैं।[9] 'प्रतीयते प्रत्येति वा इति' के अनुसार प्रतीक शब्द पुल्लिंगवाचक तथा 'ईकन्' प्रत्यय से निष्पन्न है (प्रति इ (इण् गतौ) अलीकादयश्चेति ईकन्ः अंगम्)। अमरकोश में भी इसे अंग और अवयव का वाचक बताया गया है।[10] यह शब्द 'प्रति' उपसर्ग में 'कन्' प्रत्यय जोड़ने से तथा निपातन से दीर्घ होकर भी बनता है[11] (प्रति कन् नि. दीर्घः) अन्यत्र,' के अनुसार (प्रतीकृ गतौ घञ्) केवल प्रकृष्ट अर्थ को प्रदान वाला तत्त्व ही प्रतीक कहा जा सकता है। 'प्रति' उपसर्ग से सम्बन्धित संज्ञा शब्द समतामूलक और साम्यमूलक अर्थों को सूचित करते हैं, जबकि 'प्रय' उपसर्ग उत्कृष्ट अर्थ के लिए मिलता है।[12] इस प्रकार वास्तव में इस शब्द की जो रचना 'प्र' उपसर्ग में 'तीकन्' प्रत्यय जोड़ने से सिद्ध की जा सकती है।[13] वह कला–प्रतीकों के विचार से अधिक उपयुक्त है, क्योंकि प्रायः ये हमारा ध्यान उत्तरोत्तर उत्कृष्ट विषयों या अर्थों की ओर आकर्षित करते हैं।

सामान्यतया प्रत्येक रचना के मूल में रचनाकार की इच्छा बीज की भाँति छिपी रहती है। यह पुरूष भी छान्दोग्य उपनिषद् में स्वयं की इच्छा अथवा संकल्प से उत्पन्न माना गया है (अथ खलु क्रतुमयः पुरूषः)। संकल्पमय पुरूष उचित चिन्तन और निर्दिष्ट कार्य प्रणाली से अपनी योग्यता और अधिकार के अनुरूप विचारों की दृढ़ता उपार्जित करता है। 'जल ब्रह्मा हैं', 'स्थल ब्रह्मा है', 'वायु ब्रह्मा है', 'आकाश ब्रह्मा है' आदि प्रतीकोपासना के सूचक वाक्य उपनिषदों में मिलते हैं। उपासना की दृष्टि

से कोई प्रतीक छोटा या बड़ा नहीं था। सूर्य–चन्द्र जैसे उच्च स्तर के प्रतीकों का प्रचलन सभी वर्ग के लोगों की उपासना में मिलता है। प्रारम्भ में ब्रह्मा–दृष्टि या ईश्वर भाव के उत्कर्ष हेतु प्रतीकों का प्रयोग–विधान था। तदन्तर, उपासनागत प्रतीक (प्रतिमा) में ईश्वरत्व या इष्ट भाव की अनुभूति, सुदृढ़ हो जाने पर वही 'सर्व खल्विदं ब्रह्मा' के लिए उपयुक्त मानी जाती थी। वैसे भारत में प्रतीकोपासना द्वारा परमात्मा की प्राप्ति या इष्ट–साक्षात्कार की धारणा आज तक प्रचलित है।

धर्म के क्षेत्र में प्रतीक–भावना का प्रभाव वैदिक काल से मिलता है। उत्तर भारत की कला के सभी युगों में इसी भावभूमि की खोज करने पर प्रचुर उदाहरण मिलते हैं। मूर्तिकला में प्रतीकों और प्रतीकोपासना के दृश्यों का आलेखन हड़प्पा सभ्यता के युग से ही मिलने लगता है। आगे चलकर कला में वैदिक–प्रतीकों का जैसे आधिपत्य होता गया। उपलब्ध पुरातात्विक सामग्री में कलागत 'सादृश्यवाद' तथा 'रूढ़िवाद' की दो धाराएँ स्पष्टतया सिन्धु घाटी कला–शैली के युग से ही प्रवाहमान मिलती है।[14] वास्तव में लोक–संस्कृति सादृश्यवादी कला को गतिशील जीवन के प्रतीक प्रदान करती है तथा रूढ़िवादी कला लोक धर्म और संस्कृति के सुप्रभाव से वंचित रह जाती है। इसके अतिरिक्त धर्म तथा जातीय भावना के विकास के लिए रूढ़िग्रस्त प्रतीकों का प्रचलन बना रहता है।

बौद्ध धर्म और कला में प्रतीक–जूजन के तीन भेद मिलते हैं।[15] पूजा–प्रतीकें के वर्गीकरण की यही प्रवृत्ति जैन में मिलती है। प्रायः धार्मिक उद्देश्यों को लेकर चलाए गए प्रतीक विभिन्न युगों की कला–शैलियों की सहायता से लोकप्रिय बनाए गए। साम्प्रदायिक स्वर को मुखर बनाने वाले प्रतीक कला में यथासम्भव शाश्वत अर्थ या सार्वभौमिक मान्यता के सांस्कृतिक आदर्श के पोषक रहे। ये प्रतीक भारतीय कला की मानसिक पृष्ठभूमि की रूप–रेखा और संघटन की क्षमता को सूचित करते हैं। प्रतीकों से सम्बन्धित सुनिर्धारित सिद्धान्तों के प्रति कुमारस्वामी ने विशेष बल दिया है।[16]

धार्मिक और लौकिक महत्व के प्रतीकों की प्राचीन साहित्य में अक्षय सामग्री है। कलागत प्रतीकों की यथोचित जानकारी के लिए हरिवंश और वास्तुरत्नकोश की सूचियाँ अधिक अध्ययनोपयोगी हैं। मांगलिक विषयों की कुषाण–गुप्तकालीन जनधारणा के परिचय के लिए 'अंगविज्जा' का बाईसवां अध्याय (प्रशस्ताध्याय) भी ज्ञातव्य है। इसमें अनेक जातीय प्रशस्त नाम, क्रियाएँ, पूजन, उत्सव, स्थान और ऋतुएँ आदि उल्लिखित हैं। शुभ फल–कथन–हेतु निर्धारित मांगलिकों की सूची तथा अष्टमांगलिक चिह्नों (चिंघट्टठय) का भी उल्लेख है। अन्त में कहा गया है कि जहाँ की रूचि हो, जो इन्द्रियों को इष्ट प्रतीत हो और लोक–जीवन में जिसके प्रति पूज्य–भावना हो, उसे ही प्रशस्त जानना चाहिए।[17] (यं लोके पूजितं किंचि मणो यत्थ च रज्जति। यमिंयिाणमिट्ट च पसत्थं तम्म णिद्दसे)।

लगभग उत्तर गुप्तकाल के वास्तुरत्नकोश में अष्टोत्तशत मांगलिकों की पाठ–भेद के आधार पर सात सूचियाँ मिलती हैं। पहली सूची एक सौ आठ, दूसरी सौ, तीसरी सौ, चौथी एक सौ पांच, पांचवीं एक सौ एक, छठवीं एक सौ आठ, तथा सातवीं एक सौ दो प्रतीकों की है। इन सूचियों के अनुशीलन द्वारा मांगलिकों की प्रामाणिक संख्या कम से कम सौ और अधिक एक सौ आठ मिलती है। प्राचीनता की दृष्टि से हरिवंश की सूची सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। मांगलिकों का स्मरण और कीर्तन आहिनक कृत्यों या विशेष अवसरों पर प्रचलित था। 'सर्वे भद्राणि पश्यन्तु' के लोकोत्तर आदर्श के फलस्वरूप अमांगलिक, अभद्र और आसुरी भाव प्राचीन भारतीय कला और सौन्दर्यशास्त्र में अग्राह्य या त्याज्य ही बने रहे।[18] अतः विष्णुधर्मोत्तर में अमांगलिकों के चित्रण का निषेध उल्लेखनीय मिलता है (अमंगल्यांश्च न लिखेत् कदाचिदपि वेश्मसु)।

उपर्युक्त विवेचन द्वारा प्रतीक उसकी उपासना और विस्तार के विषय में संक्षिप्त विचार दिए गए हैं। भारतीय कला–प्रतीकों पर वैदिक विचारधारा का सुस्पष्ट प्रभाव माना गया है। प्रतीक कहीं एकाधिपत्य के आग्रह से और कहीं पद धर्मनिरपेक्ष भावना की उदारता से युक्त मिलते हैं। धीरे–धीरे उपासना और धर्म का क्षेत्र जितना ही व्यापक और सर्वसुलभ होता गया, कला–प्रतीकों की आवश्यकता उसी अनुपात में बढ़ती गई। वास्तुकला के अन्तर्गत, प्रतीक–विधान के कर्ता और व्याख्याता के रूप में 'गर्ग' का नाम उल्लेखनीय मिलता है। पुराणों में उल्लिखित शिल्प के दूसरे आचार्यों का भी इस दिशा में योगदान था, परन्तु आद्य आचार्यों द्वारा प्रतिपादित का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। इस प्रकार वास्तु–प्रतीकों के अध्ययन का मुख्य स्रोत विलुप्त है। 'किरण तंत्र' का उल्लेख मिलता है, परन्तु यह भी अनुपलब्ध है।[19] प्राचीन वास्तु–प्रतीकों में स्तम्भ, देवमन्दिर, प्रसाद (राजप्रसाद, देवप्रसाद), ग्राम–नगर सन्निवेश और निर्माण, प्रकार, परिखा, द्वार, देवपथ, चत्वर, राजपथ (महारथ्या), तड़ागोद्यान, दुर्ग, कपिशीर्षक आदि अनेक वास्तु–विषयों की गणना की जा सकती है। वास्तु–कलाकृति के दो पक्ष थे। पहला प्रतीकात्मक और दूसरा तकनीकी पक्ष होता था। प्राचीन साहित्य और कला में इनकी बहुमूल्य जानकारी सुरक्षित है। वास्तुकला के प्रतीकवाद का इतिहास हड़प्पा सभ्यता के युग से अविच्छिन्न मिलता है।

इस विकास–परम्परा के सूचक स्मारकों, भवनों, स्तम्भों, मन्दिरों तथा बहुविध उपलब्ध पुरातत्त्वीय अवशेषों की पूरी गणना या सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। प्रतीकात्मक महत्व की ऐसी कला–सामग्री में सभ्यता के विलुप्त सूत्र मिल जाते हैं, जिनकी सहायता से अतीत की वास्तु विषयक मान्यताओं को समझा जा सकता है। जैसे गुप्तकाल में शिल्पियों के संघ बहुमुखी नागर–वास्तु के सौन्दर्य–सृष्टा ही माने जाते हैं।[20] प्राचीन वास्तुकलागत प्रतीक–योजना को उत्खनित समग्री की सहायता से समझना सरल होता जा रहा है, क्योंकि अनेक विद्वानों और पुरातत्ववेत्ताओं ने इस दिशा में निरन्तर योगदान दिया हैं। आगे भी उत्खन्न के फलस्वरूप प्रतीकों की उपलब्धि की संभावनाएँ सदैव बनी रहेंगी। कला में प्रतीकों का प्रस्तुतीकरण उनको विभिन्न धातुओं और प्राकृतिक उपादानों पर गढ़कर, खोदकर, उभरकर, पीटकर, उोलियाकर, और ठप्पे के द्वारा होता था। अतः प्रतीकों के तुलनात्मक अध्ययन का कलागत विस्तार बहुत व्यापक मिलता है। सूर्याकृति भी इस प्रभाव से अछूती न रह सकी है। विभिन्न कालों में सूर्य का अंकन विभिन्न प्रतीकों के माध्यम से हुआ है।

संदर्भ

1. वर्मा, धीरेन्द्र. (2015). हिन्दी साहित्य कोश (प्रतिकवाद). वाराणसी. पृष्ठ **471.**
2. वही, पृष्ठ **472.**
3. मिश्र, जर्नादन. (1990). भारतीय प्रतीक विद्या. पटना. पृष्ठ **01.**
4. सिंह, केदारनाथ. आधुनिक हिन्दी कविता में बिम्ब विधान का विकास. नई दिल्ली (प्रथम संस्करण–जुलाई). पृष्ठ **28.**
5. सिंह, केदारनाथ. आधुनिक हिन्दी कविता में बिम्ब विधान का विकास. नई दिल्ली (प्रथम संस्करण–जुलाई). पृष्ठ **29.**
6. सिंह, केदारनाथ. आधुनिक हिन्दी कविता में बिम्ब विधान का विकास. नई दिल्ली. प्रथम संसकरण. पृष्ठ **31–32.**
7. वर्मा, सुरेन्द्र. (2001). भारतीय कला एवं सांस्कृतिक प्रतीक कोश. भोपाल (म0प्र0). पृष्ठ **01.**

8. ऋग्वेद : 1/92/6, तैत्तिरीय संहिता : 04/2/3/1/6/3/2/1ए, शतपथ ब्राह्मण : 06/8/1/7ण
9. शतपथ ब्राह्मण. 14/4/3/7.
10. शब्द कल्पदुम. पृष्ठ **268.** बहादुर, राधाकान्त देव. (2008). अमरकोश द्वितीय काण्ड. कलकत्ता. पृष्ठ **701.**
11. तारानाथ. (1929). वाचस्पत्यम्, शष्ठोभाग. कलकत्ता. पृष्ठ **4457.**
12. कृष्णमूर्ति, पी0एस0आर0. (2010). शब्दार्थ चिन्तामणि. तिरूपति. पृष्ठ **241.**
13. अष्टाध्यायी. 3/1/135.
14. मोतीचन्द्र. (2010). सम्मेलन पत्रिका. 'लोक संस्कृति विशेषांक'. अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन. प्रयाग. पृष्ठ **319.**
15. थापर, रोमिला. (2012). अर्ली इण्डियन आर्ट. प्रकाशक के0 सागर. पृष्ठ **20–21.**
16. कुमारस्वामि, आनन्द के0. (2010). द डांस ऑफ शिवा. सागर प्रकाशकः नई दिल्ली. पृष्ठ **170.**
17. कौसत्यायन, भदंत आनन्द. (अनुवादक). महावंश, 1972, 30/35/68/90/93. अंगविज्जा : 148.
18. नारद संहिता. 1/17–18.
19. भट्टाचार्य, टी0. (1986). द कैनन्स ऑफ इण्डियन आर्ट. कलकत्ता. पृष्ठ **127.**
20. रघुवंशम. 16/38.